

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

आत्मशोधन - प्रकरण

षष्ठस्य दिवसस्याथ प्रवासे मंडलस्य ते ।
सदस्याः साभिलाषा संजाता ज्ञातुमिदं कथम् ॥ १ ॥
वैभवं वर्च एवापि मानवोचितमुत्तमम् ।
प्राप्तुं शक्यं कुतो येन सुखिनः स्युः समेऽप्यलम् ॥ २ ॥
तत्परत्वस्य यद्येष आकांक्षायाश्च विद्यते ।
परिणामस्तदा त्वेते सर्वेष्वत्र तिष्ठतः ॥ ३ ॥
इच्छायामपि सत्यां च साफल्यं यान्ति नो जनाः ।
प्राप्तुमेतत्कथं सर्वे कारणं किं च विद्यते ॥ ४ ॥
अनुग्रहोऽयं दैवश्चेत्समदर्शितया ततः ।
भगवतो मानवैः सर्वैः प्राप्येतैव सुनिश्चितम् ॥ ५ ॥
प्रगतेरिच्छुकानां च समृद्धेरपि ते कथम् ।
असंख्याः सन्ति साफल्यहीनास्ते दुर्मनायिताः ॥ ६ ॥
समानाः स्थितयः सर्वैः प्रायः प्राप्ता अपीह च ।
न्यूनाधिक्यतया चित्तं शरीरं च समं नृणाम् ॥ ७ ॥
अनुत्तस्थितावेव केषाञ्चित्तु नृणामिह ।
केषाञ्चित्प्रगतेरुच्चशिखरेऽत्र स्थितिस्तदा ॥ ८ ॥
पतनस्य पराभूतेर्यन्त्रणासहनं नृणाम् ।
कथं भवति तत्सर्वं रहस्यं ज्ञेयमेव तु ॥ ९ ॥
नृणां चित्तगतेज्ञाने निष्णातो नारदो मुनिः ।
मंडलस्य सदस्यानां जिज्ञासां प्राप्य चाह सः ॥ १० ॥
टीका—छठे दिन के प्रवास में मंडली के सदस्यों को यह जानने की अभिलाषा हुई कि मनुष्योचित वैभव-वर्चस किस प्रकार कहाँ से उपलब्ध होता है, जिससे सभी सुखी हो सकते हैं। यदि यह आकांक्षा और तत्परता का परिणाम है, तो वह सभी में रहती है, फिर लोग इच्छा रहते हुए भी सफल क्यों नहीं होते? यदि वह दैवी अनुग्रह है, तो फिर भगवान के समदर्शी होने के नाते वह सभी को समान रूप से क्यों उपलब्ध नहीं होता? प्रगति और समृद्धि की आकांक्षा करने वालों में से क्यों असंख्याओं को मन-मसोस कर असफल रह जाना पड़ता है। परिस्थितियाँ न्यूनाधिक मात्रा में सभी को एक जैसी उपलब्ध हैं। शरीर और मन की सरंचना भी प्रायः मिलती-जुलती ही है, फिर किसी का पिछड़ी स्थिति में पड़े रहना, किसी का प्रगति के उच्चशिखर पर जा पहुँचना और किसी का पतन-पराभवजन्य यंत्रणाएँ सहते रहना क्यों कर होता है? यह रहस्य जानना चाहिए। जन-जन के मन-मन की बात जानने में निष्णात महाभाग नारद जी ने मंडली के साथियों की जिज्ञासा का आभास पाया और मुस्कराते हुए बोले ॥ १-१० ॥

नैव भाग्यविधानस्य विधिः शोच्यः कदाचन ।
भवद्भिर्न विचार्य च यन्मंत्रस्याथवा पुनः ॥ ११ ॥
देवस्य कस्यचिच्छिन्नचमत्कारेण वाऽञ्जसा ।
नरः साफल्यमाप्नोति वैभवं चातुलं तथा ॥ १२ ॥
प्राप्यते यत्पौरुषस्य फलं तन्मन्यतां ध्रुवम् ।
पुरुषार्थेषु मुख्यं तदात्मशोधनमुच्यते ॥ १३ ॥
जन्मान्तरकुसंस्कारान् दूरीकर्तुं निजात्मना ।
तप आदाय संघर्षः कार्य एवं नरैः समैः ॥ १४ ॥
आकांक्षामान्यतास्वत्र प्रकृतिष्वपि संगतैः ।
पशुस्तैर्निकृष्टैस्तैर्भावैर्मत्या वृता इह ॥ १५ ॥
चक्रव्यूहे च तस्मिंस्ते स्पर्शिताश्च भ्रमन्त्यलम् ।
यंत्रवृषभतुल्यास्ते शर्म विन्दन्ति नो क्षणम् ॥ १६ ॥
न चैवं प्राप्नुवन्त्येते किमपीप्सितमुत्तमम् ।
मानवं जीवनं येन भवेत्सार्थकमन्ततः ॥ १७ ॥

टीका—नारद ने कहा आप लोग भाग्य-विधान की बात न सोचें। किसी देवता या मंत्र के चमत्कार से मनुष्य अनायास ही सफलताएँ प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा भी न सोचें। जो मिलता है, वह मनुष्य के पुरुषार्थ का प्रतिफल होता है। पुरुषार्थों में प्रमुख आत्मशोधन है। जन्म-जन्मांतरे के संचित कुसंस्कार को निरस्त करने के लिए अपने आप से तपश्चर्या का माध्यम अपनाकर लड़ना पड़ता है। आकांक्षाओं, मान्यताओं और आदतों में घुसी हुई पशुस्तर की निकृष्टता से सामान्य जन घिरे रहते हैं। वे उसी चक्रव्यूह में फँसे, कोल्हू के बैल की तरह जुते रहते हैं, उन्हें एक क्षण भी सुख नहीं मिल पाता तथा उनके पल्ले कुछ ऐसा नहीं पड़ता, जिससे मनुष्य जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सके ॥ ११-१७ ॥

मनोरथा अहंकारसंभवा लोभमोहजाः ।
भवबंधनशब्देन कथ्यन्ते मुनिभिर्वरैः ॥ १८ ॥
भंक्तुमेतदपेक्ष्यं तदन्तः साहसमुत्तमम् ।
इदमेवोदगतं कर्तुं संभवेच्चेत्तदैव तु ॥ १९ ॥
आत्मशोधन होतोश्च संभवेदात्मना स्वयम् ।
योद्धुं लोके नरः पुण्यो भविष्यत्कर्तुमुज्ज्वलम् ॥ २० ॥
गीतायां वर्णितं दिव्यं य एव जयति स्वतः ।
इदमान्तरिकं मर्त्यो महाभारतमुत्तमम् ॥ २१ ॥
नरं तं वृणुते शीघ्रं विजयश्रीस्तथैव सः ।
ऋद्धिसिद्धिरवाप्नोति भौतिकाध्यात्मकीर्तुतम् ॥ २२ ॥

टीका—लोभ-मोह और अहंकार के क्षुद्र मनोरथों को ही मुनिगण भव-बंधन कहते हैं। इन्हें तोड़ने के लिए आंतरिक साहस की आवश्यकता पड़ती है, उसे उभारा जा सके, तो आत्मशोधन के लिए अपने आपसे लड़ सकना संभव होता है,

६.२८ प्रज्ञोपनिषद्

ऐसा कर सकने वालों का भविष्य उज्ज्वल बनता है, व वही पुण्यात्मा होता है। जो गीता में वर्णित इस आंतरिक महाभारत को जीतता है, उसे विजय श्री वरण करती है और भौतिक सिद्धियों तथा आत्मिक ऋद्धियों का उपहार अनायास ही प्राप्त होता है ॥ १८-२२ ॥

मनोनिग्रहरूपे च तपश्चर्याविधौ तु ये ।

स्वभाव अनुपयुक्तास्तु स्पष्टं द्रोह्याः समेऽपि ते ॥ २३ ॥

एतदर्थं नैर्ग्राह्यमनुशासनमुत्तमम् ।

व्रतधारणमप्यत्र विधेयं च यथाविधि ॥ २४ ॥

मनो जयति यो विश्वविजयी स भवेन्नरः ।

अभ्यासेऽस्मिन् समग्रास्यात्साधना संयमस्य तु ॥ २५ ॥

चतुर्था संयमः प्रोक्तो विचारेन्द्रिययोरथ ।

कालार्थयोश्च मर्त्यस्य जीवने सर्वदैव तु ॥ २६ ॥

य इमान् साधयेन्मर्त्यः साधको वस्तुतस्तु सः ।

साधना परिणामश्च सिद्धिरूपे भवेदिह ॥ २७ ॥

टीका—मनोनिग्रह की तपश्चर्या करने में अभ्यस्त आदतों में से जो अनुपयुक्त है, उनके विरुद्ध खुला विद्रोह करना पड़ता है। इसके लिए अनुशासन अपनाने और व्रत धारण करने पड़ते हैं। जो मन को जीतता है, वह विश्वविजयी बन सकता है। इस अभ्यास में समग्र संयम साधना होती है। संयम चार प्रकार के हैं—इंद्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम, जो मनुष्य के जीवन में सदा अपेक्षित हैं। जो इन्हें साध लेता है, वही सच्चा साधक है। साधना की परिणति सिद्धि के रूप में होकर रहती है ॥ २३-२७ ॥

कुसंस्कारैश्च योद्धुं यो मानवस्तु प्रवर्तते ।

अयने प्रथमे सोऽत्र पशुस्तरगतास्तु तान् ॥ २८ ॥

आदर्शरहितान् मर्त्यान्मानुकर्तुं तथैव च ।

तैर्दत्तं च परामर्शं वाञ्छत्यल्पमपीह नो ॥ २९ ॥

साधकस्त्वात्मनो लक्ष्यं निश्चिनोति स्वयं तथा ।

आत्मानं परमात्मानं सधयञ्चौ प्रविचारयन् ॥ ३० ॥

ताभ्यां विनिश्चतो मार्गोऽवलम्ब्यः प्रेरणां च ये ।

अधिगच्छन्ति हीनैस्ते तथा हीना भवन्त्यपि ॥ ३१ ॥

आदर्शास्ते सदैवात्र गृह्णन्त्यध्यात्मवादिनः ।

असंख्याननुकर्तुं च प्रेरकं मार्गमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

चिन्वन्ति दूरदर्शित्वयुतेनैतेन चात्मनः ।

विवेकेन त्यजन्त्येनं नैवात्मन्यादिभिः क्वचित् ॥ ३३ ॥

संघर्षेणात्मनो विद्युदुदेति स्वयमेव सा ।

प्रयोजनानि पूर्यन्ते ययाऽऽश्चर्यकराणि तु ॥ ३४ ॥

मनोबलं न कश्चित्तु लभते पुरुषोऽञ्जसा ।

तदापुं च निजेनात्र स्वभावेनाथवा पुनः ॥ ३५ ॥

स्वजनोत्पादिता बह्वीः सिद्धांतरहितास्तु ताः ।

बाध्यतास्त्यक्तुमभ्येति साहसं ज्ञायतां ततः ॥ ३६ ॥

अर्जितुं विपुलामात्मशक्तिं तस्य कृते धुवम् ।

अपावृतमिवद्वारं पूर्णतो मंगलोन्मुखम् ॥ ३७ ॥

टीका—कुसंस्कारों से लड़ने के प्रथम मोरचे पर जो जूझता है, उसे पशुस्तर के आदर्शहीन लोगों का अनुकरण करने, परामर्श अपनाने की तनिक भी इच्छा नहीं होती है। साधक को अपना लक्ष्य स्वयं निर्धारित करना पड़ता है और आत्मा तथा परमात्मा के दो साथियों को पर्याप्त मानकर उनके बताए हुए मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है। गए-गुजरे लोगों से जो प्रेरणा ग्रहण करते हैं, वे उन्हीं के जैसे क्षुद्र बन जाते हैं। अध्यात्मवादी आदर्श अपनाते हैं और असंख्यों को अनुकरण की प्रेरणा दे सकने वाला मार्ग दूरदर्शी विवेकशीलता के आधार पर चयन करते हैं तथा इस मार्ग को आलस्यादि कारणों से भी कभी नहीं छोड़ते हैं। इस निजी परिकर के संघर्ष से ही वह आत्म-विद्युत उत्पन्न होती है, जिनके सहारे अनेकानेक आश्चर्यजनक प्रयोजन पूरे किए जा सकें। मनोबल अनायास ही किसी को नहीं मिलता। उसे प्राप्त करने के लिए अपनी आदतों से, तथाकथित स्वजनों द्वारा पड़ने वाले सिद्धांत रहित दबावों को अस्वीकार करने की हिम्मत पड़ गई, तो समझना चाहिए कि उसके लिए अजस्र आत्मबल एकत्रित करने का मंगलमय द्वार पूर्णरूप से खुल गया है ॥ २८-३७ ॥

घर्षणाज्जायते विद्युद् विदन्तीदं समेऽपि तु ।

युद्ध्यते यः कुसंस्कारैः स्वजनैर्मन्दबुद्धिभिः ॥ ३८ ॥

प्रमाथिभिस्तथा लोभैरोजस्वी स नरस्तथा ।

मनस्वी कथ्यते लोके तेजस्वी वा नरैः सदा ॥ ३९ ॥

आत्मशक्तिधनाः सन्ति नरास्ते वस्तुतस्तथा ।

तदाश्रित्य च संव्याप्ता विभूतीः प्राप्तमन्ततः ॥ ४० ॥

अशुभानि निराकर्तुं समर्थास्ते भवन्त्यपि ।

प्रयोजनद्वयं चात्मशक्तिः पूरयति स्वतः ॥ ४१ ॥

वैभवार्जनमेवं च संकटानां विनाशनम् ।

येनात्मतेजसा सिद्धेत्तद् ब्रह्माग्निरुदाहृतः ॥ ४२ ॥

इदमेव तदूर्जस्तु यदाश्रित्यात्र संभवेत् ।

प्रगतिर्भौतिकेऽध्यात्मक्षेत्रे लब्धिरनुत्तमा ॥ ४३ ॥

एतादृशा जना स्वस्यां मार्गनावि विधाय च ।

असंख्यानपविष्टास्तु प्रापयन्ति तटं परम् ॥ ४४ ॥

टीका—सभी जानते हैं कि रगड़ से बिजली उत्पन्न होती है। अपने कुसंस्कारों से, मूढ़मति प्रियजनों से, आकर्षक प्रलोभनों से, जो लड़ सका, उसी को ओजस्वी, मनस्वी और तेजस्वी कहते हैं। ऐसे लोग आत्मबल के धनी बनते हैं और उसके सहारे संव्याप्त विभूतियों को खींचने तथा अशुभ-अनुपयुक्त को फेंकने में समर्थ होते हैं। आत्मशक्ति यह दोनों ही प्रयोजन पूरे करती है। संकट को टालना और वैभव को बटोरना, जिस आत्मतेज के माध्यम से बन पड़ता है, उसे

प्राणाग्नि या ब्रह्माग्नि कहते हैं। यही वह ऊर्जा है जिसके सहारे भौतिक क्षेत्र में द्रुतगति से आगे बढ़ना और अध्यात्म क्षेत्र में असाधारण ऊँचाई तक उठ जाना संभव होता है। ऐसे लोग अपनी नाव पर बिठाकर असंख्यों को इस किनारे से उस किनारे तक पहुँचाते हैं ॥ ३८-४४ ॥

विलासाभिरता लुब्धा लिप्सा जलधिमज्जिताः ।

येन-केन प्रकारेण कर्मकांडोपचारतः ॥ ४५ ॥

देवानात्मकृते तुष्टानिव कर्तुं कथञ्चन ।

यतन्ते स्वार्थसिद्धयै चापात्रायैस्पृह्यन्त्यपि ॥ ४६ ॥

सन्त्येवासफला मर्त्या निराशाश्चेदृशाः समे ।

अध्यात्मनि कृता नैव सफला स्याद् विडम्बना ॥ ४७ ॥

लाञ्छितं साधनायास्तु तत्त्वज्ञानं हि कुर्वते ।

गोपायन्ति स्वदुर्बुद्धिं नरा एतादृशा इह ॥ ४८ ॥

टीका—विलासी, लालची, लिप्साओं में डूबे हुए व्यक्ति जिस-तिस प्रकार कर्मकांड उपचार के सहारे देवताओं को फुसलाने का प्रयत्न करते हैं और उनसे ऐसे स्वार्थ साधना चाहते हैं, जिनकी पात्रता नहीं है। ऐसे लोग सदा निराश और असफल रहते हैं। अध्यात्म के नाम पर अपनाई गई विडम्बना कभी फलीभूत होती नहीं। ऐसे लोग ही साधना के तत्त्वज्ञान पर लांछन लगाकर अपनी दुर्बुद्धि छिपाते रहते हैं ॥ ४५-४८ ॥

नारदो दर्शयामास विविधानां तपस्विनाम् ।

कार्यक्षेत्राणि सिद्धानामर्जितो यैर्निर्धर्महान् ॥ ४९ ॥

दिव्यशक्तेः परिष्कारसाधनानि निजात्मनः ।

कर्माण्यसंभवान्यन्यैर्हितान्या - चरितान्यपि ॥ ५० ॥

साफल्यानां विभूतीनां सम्पदां शक्तिरेव तु ।

जननी, संग्रहो यस्याः पौरुषेणैव संभवेत् ॥ ५१ ॥

आध्यात्मिकैस्तथैवैतन्निमित्तं संयमस्तपः ।

परार्थरतिरेतानि मतान्यावश्यकानि तु ॥ ५२ ॥

टीका—नारद जी ने ऐसे अनेक तपस्वी सिद्धपुरुषों के कार्यक्षेत्र दिखाए, जिनने आत्म परिष्कार की साधना से दिव्यशक्ति का भंडार अर्जित किया और लोकहित के ऐसे काम कर दिखाए, जो सामान्य लोगों द्वारा, सामान्य परिस्थितियों में संभव नहीं होते। शक्ति ही संपदाओं, विभूतियों और सफलताओं की जननी है। उसका संग्रह आध्यात्मिक पुरुषार्थों द्वारा ही संभव होता है। इसके लिए संयम-साधने, तप करने और परमार्थ में निरत रहने की आवश्यकता पड़ती है ॥ ४९-५२ ॥

सुविधानां साधनानां साफल्यानां च संश्रयैः ।

उल्लासं परमं यान्ति जनाः सर्वेऽपि संततम् ॥ ५३ ॥

आधारमिममाश्रित्य साहसं कौशलं तथा ।

स्वास्थ्यं मनोबलं तेषां वृद्धिं यान्ति क्रमादिह ॥ ५४ ॥

अध्यात्मक्षेत्र - विज्ञानवेत्तारः श्रद्धया तथा ।

विश्वासेनापि निर्मान्ति मनोभूमिं तथा यथा ॥ ५५ ॥

प्रसन्नता तथाऽऽनंदो यायातां वृद्धिमुत्तमाम् ।

ब्रह्मानन्दं वदन्त्येनं सच्चिदानंदमप्यथ ॥ ५६ ॥

परमानंदमप्यत्रानुभूतीरीदृशीर्नहि ।

असाफल्यानि कुर्युश्च काठिन्यानीह पीडिताः ॥ ५७ ॥

साधनेषु निजेष्वेव सीमितेषु परिग्रहम् ।

पालयन्तो व्रतं सर्वे स्थिरप्रज्ञस्तरं सुखम् ॥ ५८ ॥

अनुभवन्ति च सन्तोषं गन्धेनेवास्य कुर्वते ।

वातावरणमत्यर्थमुल्लासेनाभिपूरितम् ॥ ५९ ॥

असंख्याः प्राप्नुवन्त्यस्मादुत्साहं साहसं तथा ।

आदर्शवादितामत्र स्वीकर्तुं जीवने स्वके ॥ ६० ॥

टीका—साधनों, सफलताओं और सुविधाओं के सहारे सभी प्रसन्न-उल्लसित होते हैं। इस आधार पर उनका स्वास्थ्य, साहस, कौशल और मनोबल भी बढ़ता है, पर अध्यात्म क्षेत्र के विज्ञानी श्रद्धा-विश्वास के सहारे भी ऐसी मनोभूमि विनिर्मित कर लेते हैं, जिसमें प्रसन्नता और प्रफुल्लता की मात्रा अत्यधिक बढ़ सके। इस मनःस्थिति को परमानंद, ब्रह्मानंद, सच्चिदानंद आदि नाम दिए गए हैं। ऐसी अनुभूति वालों को सांसारिक कठिनाइयाँ और असफलताएँ भी व्यथित नहीं करतीं। सीमित साधनों में अपरिग्रह का व्रत पालते हुए ऐसे लोग स्थितप्रज्ञ स्तर के सुख-संतोष का अनुभव करते रहते हैं। प्रसन्न व्यक्ति अपनी अनुभूति की सुगंधि से वातावरण को उल्लसित किए रहते हैं। उससे असंख्यों को अपने जीवन में आदर्शवादिता अपनाने का साहस उत्साह मिलता है ॥ ५३-६० ॥

ब्रह्मचैतन्यमेतच्च विराड्विश्वं तु वर्तते ।

तत्राहं भावसंन्यासमान्यतां संविधाय च ॥ ६१ ॥

परिपक्वां ब्रजेत्क्षुद्रः महत्तां साधकस्ततः ।

सीमाबंधनगा लोभमोहाहंकार चक्रगाः ॥ ६२ ॥

श्चोतयन्ति रसं सर्वे जीवनस्यात्र संपदः ।

तीव्रलिप्सा कुचक्रे च हापयन्तीशकृत्स्थितिम् ॥ ६३ ॥

श्लथताया निराशायाः क्षोभताया अथापि च ।

अतिरिक्तं च पापान् लभ्यते किमपि क्वचित् ॥ ६४ ॥

परमाध्यात्मिकं दृष्टिकोणं ये तूत्तमं नराः ।

स्वीकृत्यात्मनि सर्वाश्च सर्वेष्वामानमप्यथ ॥ ६५ ॥

द्रष्टुं जाताः समर्थास्तु सर्वे पश्यन्ति ते स्वकम् ।

अनुभवन्ति धनं लब्धं सममिन्द्रकुबेरयोः ॥ ६६ ॥

टीका—विराट् विश्व की ब्रह्मचेतना में अपने आपे का समर्पण करने की मान्यता परिपक्व करके साधक क्षुद्र से महान बनता है। सीमा-बंधनों से जकड़े हुए लोग मात्र लोभ, मोह, अहंकार के कुचक्र में पिलते हुए जीवन-संपदा का सारा रस निचोड़ डालते हैं और न बुझने वाली लिप्सा के

६.३० प्रज्ञोपनिषद्

कुचक्र में ईश्वर प्रदत्त सुयोग को बुरी तरह गवाँ बैठते हैं। थकान, निराशा, खीज और पाप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता, किंतु जिनने अध्यात्मवादी उदात्त दृष्टिकोण अपनाकर अपने में सबको और सबमें अपने को देखना सीख लिया उन्हें सब कुछ अपना ही दीखता है और इंद्र-कुबेर जैसे वैभव प्राप्त कर लेने जैसा अनुभव होता है ॥ ६१-६६ ॥

एकमस्तीश्वरस्येह दर्शनस्य तु वस्तुतः ।
स्वरूपं विश्वमेतत्तु पश्येत्तस्मिन् परात्मनि ॥ ६७ ॥
ओतप्रोतं तथोद्यानं कर्तुं विकसितं श्रयेत् ।
पौरुषं मुदितः स्याच्च तस्य सामीप्यो नरः ॥ ६८ ॥
मनःस्थितौ तथेदृश्यां व्यक्तेश्चिन्तनमप्यथ ।
प्रयासा लोककल्याण निरतास्ते भवन्ति हि ॥ ६९ ॥
आत्मार्पणेन तस्मै च साधका विन्दु-सिंधुवत् ।
स्फुलिङ्गाग्निसमस्तेन विराजैकत्वमाप्नुयात् ॥ ७० ॥
विराजं ब्रह्ममत्वा च विश्वं श्रद्धायुतेन तु ।
चेतसा तस्य सेवायां लग्नता भक्तिरुत्तमा ॥ ७१ ॥
भक्ता एवं विधा नित्यमीशसन्निध्यजं समे ।
लभन्ते परममानन्दमनुकम्प्याः प्रभोश्च ते ॥ ७२ ॥
एकता भगवतोऽत्यर्थं भक्तस्यातश्च संभवेत् ।
निजं भक्तस्य किञ्चिन्न शिष्यते तत्र चेश्वरः ॥ ७३ ॥
समाविष्टो भवत्येव पृथक्त्वं तत्तथैव च ।
वैमुखं तिष्ठतस्तावद् यावल्लिप्सोन्मदो नरः ॥ ७४ ॥
ईश्वरेच्छैव स्वेच्छा च यदा संजायते तदा ।
शिष्यतेकामनानैवयाच्चाया न स्थितिः क्वचित् ॥ ७५ ॥
पूर्णता लक्ष्यसंप्राप्तिरस्यामेव मनः स्थितौ ।
जायते प्राणिषु ब्रह्मावेशस्तत्प्रभुदर्शनम् ॥ ७६ ॥

टीका—ईश्वर दर्शन का एक ही वास्तविक स्वरूप है। इस संसार को ईश्वर से ओत-प्रोत देखना और विश्व उद्यान को सुविकसित बनाने के लिए पुरुषार्थ कर उसकी निकटता का आनंद लेना। ऐसी मनःस्थिति में व्यक्ति का चिंतन और प्रयास मात्र लोकमंगल में ही निरत रहता है। ईश्वर को आत्मसमर्पण करने पर साधक विदु-सिंधु की तरह, आग-चिंगारी की तरह उस विराट् सत्ता से तादात्म्य एकाकार हो जाता है। विश्व को विराट् ब्रह्म मानकर उसकी सेवा साधना में श्रद्धापूर्वक जुट जाना सच्ची भक्ति है। ऐसे भक्तजन निरंतर ईश्वर-सन्निध्य का आनंद लाभ करते हैं। उन पर ईश्वर की अनुकंपा निरंतर बरसती है। भक्त और भगवान की एकता-एकात्मता इसीलिए बनती है कि भक्त का अपना कुछ रहता ही नहीं, तो उस खालीपन में भगवान का भर जाना स्वाभाविक है। पृथक्ता और विमुखता तभी तक रहती है, जब तक ललक-लिप्सा का उन्माद चढ़ा रहता है। जब भगवान की इच्छा ही अपनी इच्छा बन गई, तो फिर न कुछ कामना रहती

है, न याचना की आवश्यकता पड़ती है। पूर्णता का लक्ष्य इसी मनःस्थिति में प्राप्त होता है। भगवान का दर्शन सब में ब्रह्मसत्ता का समावेश देखना है ॥ ६७-७६ ॥

सेवा सा साधना चैव भक्तिरत्रोच्यते तथा ।
उदातोदृष्टिकोणश्च स्वर्ग एव न संशयः ॥ ७७ ॥
अहंकारस्य लोभस्य मोहस्य त्रिविधं च यत् ।
भवबंधनमेतस्मान्मोचनं मुक्तिरुच्यते ॥ ७८ ॥
इच्छायां भगवतोऽथापि व्यवस्थायां निजस्य च ।
तत्परत्वं च विद्वद्भिः प्रोक्ता लोक उपासना ॥ ७९ ॥
संस्कारपद्धतौ स्वस्य जीवनस्य गतिश्च सा ।
उच्यते साधनेशस्य मित्रं नो शत्रुरेव वा ॥ ८० ॥
नोपहारं स्तुतिं वा स वाञ्छतीह तु कस्यचित् ।
तस्य नावश्यकं चैतद् विद्यते परमात्मनः ॥ ८१ ॥
न निजो न परस्तस्य न शत्रुर्मित्रमेव वा ।
अस्ति वास्तविकं रूपं पूजायाः श्रमसीकरैः ॥ ८२ ॥
विश्वोद्यानस्य तस्यालं सिञ्चनं श्रेष्ठताविधेः ।
बीजारोपणमादर्शवादिता वृद्धिरत्र च ॥ ८३ ॥

टीका—भक्ति सेवा-साधना को कहते हैं। उदात्त दृष्टिकोण का नाम स्वर्ग है। लोभ-मोह-अंधकार के त्रिविध भव-बंधनों से छुटकारा पाने का नाम मुक्ति है। भगवान की इच्छा और व्यवस्था में अपने-आपको खपा देना उपासना है। साधना का अर्थ है, जीवन को सुसंस्कारिता के ढाँचे में ढाल लेना। ईश्वर का न कोई मित्र है, न कोई शत्रु। उन्हें किसी का उपहार-मनुहार नहीं चाहिए। इसकी उन्हें आवश्यकता भी नहीं है। न उनका कोई अपना है, न पराया। न मित्र है, न शत्रु। पूजा का वास्तविक स्वरूप है भगवान के विश्व उद्यान को श्रम-सीकरो से सींचना और उसमें उत्कृष्टता का बीजारोपण, आदर्शवादिता का अभिवर्द्धन करना ॥ ७७-८३ ॥

आत्मनः शोधने लग्नाः परमार्थे रताश्च ये ।
पुरुषास्ते मता लोके वस्तुतो भक्तसत्तमाः ॥ ८४ ॥
वरदानांश्च तान् सर्वान् प्राप्नुवन्त्यपि ते सदा ।
अनादिकालाद् भक्ता यान् योगिनोऽथ तपस्विनः ॥ ८५ ॥
महात्मानश्च विप्रास्ते प्रापुरस्या न ते जनाः ।
अधिकारिणि आहुयं व्यवहारेण सन्त्यथ ॥ ८६ ॥
चिन्तनेन चरित्रेण निकृष्टाः स्वार्थपूरकम् ।
मंत्रतंत्र - क्रियाभिस्तं वश्यं वाञ्छन्ति पूजया ॥ ८७ ॥
दिग्भ्रान्तानां नृणां नैव न्यूनता क्वचनास्ति सा ।
बहवोऽध्यात्ममार्गेऽपि भ्रान्ताः सन्ति नरा इह ॥ ८८ ॥
हेयं जीवन्ति स्वार्थाय दैवीः शक्तीरिह स्वयम् ।
उपयोक्तुं दिवास्वप्नं पश्यन्ति प्राय एव च ॥ ८९ ॥
ऋषयो बहवश्चात्र हिमाद्रेः क्षेत्र उत्तमे ।
वसन्तः सत्यभक्तानामिव संस्कारसंयुताम् ॥ ९० ॥

चक्रुर्जीवनचर्या च प्रापुरस्माच्च संततम् ।
 भगवतश्चानुकम्पां ते दिव्या मंगलसंयुताम् ॥ ११ ॥
 एतादृशा इह प्रोक्ता ऋषयस्तत्त्वदर्शिनः ।
 कृतकृत्याश्च ते जाता सर्वतः सन्ततं स्वतः ॥ १२ ॥
 तेषां शरणमायाता ऋद्धयः सिद्धयोऽपि च ।
 धन्यास्ते पूर्णतो जाता जीवने च निजे शुभे ॥ १३ ॥

टीका—आत्मशोधन और परमार्थ में निरत व्यक्ति ही सच्चे भक्त माने जाते हैं और वे ही उन वरदानों को प्राप्त करते हैं, जो अनादिकाल से समय-समय पर भगवद् भक्तों, योगी-तपस्वियों, संत-ब्राह्मणों को मिलते रहे हैं। इस अनुकंपा के अधिकारी वे नहीं बन सकते। जिनका चिंतन चरित्र और व्यवहार तो निकृष्ट स्तर का है, पर पूजा-अर्चा, तंत्र-मंत्र और क्रिया-कृत्यों के बदले दिव्य सत्ता को वशवर्ती बनाना और भले-बुरे मनोरथ पूरे कराना चाहते हैं। दिग्भ्रांतों की किसी क्षेत्र में कमी नहीं। अध्यात्म क्षेत्र में भी ऐसे भटके लोग बहुत हैं, जो हेय जीवन जीते और स्वार्थपूर्ति के लिए दैवी शक्ति का उपयोग करने के दिवास्वप्न देखते हैं। अनेकों ऋषिगणों ने पावन हिमालय क्षेत्र में निवास करते हुए सच्चे भक्तों जैसी जीवनचर्या बनाई और बदले में भगवान की

अजस्र अनुकंपा पाई। ऐसे तत्त्वदर्शी तपस्वी ही ऋषि कहाए और हर दृष्टि से कृतकृत्य हुए ऋद्धि-सिद्धियों ने उनके चरण चूमे। वे अपने जीवन में धन्य हो गए ॥ ८४-९३ ॥

प्रवासोऽद्यतनश्चायं व्यतीतश्चर्चयाऽनया ।
 ऋषीणामाश्रमांस्तत्र सर्वेषां पश्यतां ततः ॥ १४ ॥
 नवीना अपि यत्रैव मिलिता मुनयोऽथ च ।
 मनीषिणोऽपि यात्रायां सश्रद्धं प्रणमच्च तान् ॥ १५ ॥
 सौहार्दं चार्पयत्तत्र ततोऽग्रेऽगाच्च मंडलम् ।
 सायं समय आयाते यातुमग्रेतमस्यथ ॥ १६ ॥
 कठिनं प्रविचार्यैव मण्डलं पूर्ववत्ततः ।
 विश्रमं संनियोज्यैव सुखं रात्र्यतिवाहिता ॥ १७ ॥

टीका—आज का प्रवाह इस चर्चा के साथ ऋषि-आश्रमों के पुरातन स्थान देखते हुए व्यतीत हो गया। जहाँ-तहाँ अर्वाचीन मुनि-मनीषी भी इस यात्रा प्रसंग में मिले, उन सबको नमन करती और श्रद्धा-सौहार्द प्रस्तुत करती हुई मंडली आगे बढ़ती रही। सायंकाल होने पर रात्रि के अंधकार में आगे चलना कठिन देखकर मंडली ने नित्य की तरह विश्राम का सुयोग बिठा लिया और आनंदपूर्वक रात्रि बिताई ॥ १४-१७ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि देवसंस्कृतिखंडे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
 महर्षिनारदप्रतिपादिते आत्मशोधन इति प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥